International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 11-06-2023, Accepted: 27-06-2023, Published: 13-07-2023
Volume 9, Issue 4, 2023, Page No. 63-64

धर्म, परंपरा एवं लोक–द्वंद्व (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में)

डॉ0 प्रेरणा पाण्डेय
हिन्दी विभाग, महिला विद्यालय डिग्री कॉलेज, सतीकुण्ड कनखल, हरिद्वार, उत्तराखण्ड, भारत

सारांश
हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का समूचा बौद्धिक विचार–विमर्श आधुनिक मूल्य–बोध की अवधारणा पर आश्रित है। यह दृष्टि अगर सामाजिक है, तो वे सामाजिकता के आधुनिक आयामों को समक्ष रखते हैं, अगर सांस्कृतिक है तो संस्कृति की प्राचीनतम से लेकर नवीनतम परिस्थितियों, बनने–बिगड़ने और प्रक्रिया में रहने की स्थिति को आधुनिक चेतना–शक्ति से व्याख्यायित करते हैं। जब द्विवेदी जी धर्म पर बात करते हैं तो धर्म की प्राचीन व्याख्या से सहमति–असहमति दर्शाते हुए उसके सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्षों की कठिनाईयों को बेबाकी से कहते हैं। शास्त्रों के कथन से लोक के व्यवहार का कब और कैसे मतभेद हो जाता है, इसे लोक–व्यवहार की सूक्ष्मतम दरारों से देखते हुए द्विवेदी जी सबके समक्ष उजागर कर देते हैं। धर्म की अवधारणा को स्पश्ट करते हुए वें अन्त में मनुश्यता को भी धारण करने योग्य धर्म बताते हैं। प्रकृति ही एक मात्र स्थिर तत्व है, जिसके कारण मनुश्य को मनुष्यवत् व्यवहार करना चाहिए।

मूल शब्दः धर्म, परंपरा, लोक व्यवहार, मनुष्यता

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के लेखन में आधुनिक परिप्रेक्ष्य में धर्म को व्याख्यायित किया गया है धर्म, आचरण एवं व्यक्तिगत धारणाओं का व्यवहार में परिवर्तन मनुष्यवत होना चाहिए–ऐसा द्विवेदी जी का आध्यात्मिक चिन्तन कहता है। द्विवेदी जी के धार्मिक विश्वास एवं आचरण पर कबीर का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

अपने तीन उपन्यासों, 'वाणभट्ट की आत्मकथा', 'पुनर्नवा' एवं 'चारूचंद्रलेख' में वे मध्ययुगीन भारत को कथा की पृष्ठभूमि में डालते हैं। इस मध्ययुगीन चित्रांकन के पीछे द्विवेदी जी चित्रित करते हैं, आधुनिकता की उस आकांक्षा को जो परिस्थितियों को परिमार्जित करने के लिए, नई व्यवस्थाओं के निर्माण के लिए कटिबद्ध हैं। 'अनामदास का पोथा' 'छान्दोग्य उपनिशद' के 'रैक्व–आख्यान' से प्रेरित हैं। रैक्व नाम के चरित्र तथा तत्कालीन व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए द्विवेदी जी ने इस उपन्यास की रचना की है। संपूर्ण उपन्यास रैक्व के जीवन में घट रही घटनाओं द्वारा प्रस्तुत होता है। जंगल के निवासी रैक्व को द्विवेदी जी ने सामाजिक होना, धार्मिक होना और सही दिशा में चिंतन करना सिखाया है। स्वच्छंद होने को आचार्य द्विवेदी सिद्धि नहीं मानते। अब तक तपस्वी होने का भ्रम समाज से अलग कट कर रहने का था। परंतु द्विवेदी जी समाज में रहकर समाज की सेवा करने को तपस्या मानते हैं। 'जीवन की अपार संभावनाओं' को उजागर करने के उद्देश्य से द्विवेदी जी रैक्व नामक इस ऋशि कुमार को गृहस्थ जीवन में उतार देते हैं।

द्विवेदी जी का मतभेद शास्त्रों से है, क्योंकि सत्य की खोज जंगलों में नहीं की जा सकती ऐसा द्विवेदी जी मानते हैं। असली ज्ञान की प्राप्ति जीवन को जीवन बना सकने में है, मानवता को स्थापित करने में है। वे 'सत्य की खोज' की समाप्ति कर्म में मानते हैं। वे कहते हैं – "एक से अधिक व्यक्तियों का संसर्ग ही तो कर्तव्य और अकर्तव्य का प्रश्न उठाता है। एक का दूसरे से संबंध न हो तो धर्म की आवश्यकता क्या है?"[1]

धर्म को द्विवेदी जी एक 'कर्तव्य' की तरह भी व्याख्यायित करते हैं, और यह सत्य भी है, अन्यथा धर्म सिर्फ बाह्याचार तक ही सीमित रह जाता है। द्विवेदी जी की की उदार दृश्टि राज–धर्म, स्त्री–धर्म, पुरुश धर्म, आदि धर्मो के मध्य से उठकर एक विस्तृत क्षितिज पर पहुँचती है, जहाँ संकीर्णता के लिए स्थान नहीं है और सभी धर्मो से श्रेष्ठतर धर्म 'मानव–धर्म' का पक्ष धारण करती है। उनके अनुसार– "धर्म क्या व्यक्ति को आश्रय करके चलता है, या वह अन्त र्वैयक्तिक संबंध का आश्रय बनाता है?"[2]

शास्त्रों और वेदों में क्या लिखा है, उसमें से कितना ग्रहणीय है, कितना त्याज्य है और कहाँ–कहाँ परिवर्तन की आवश्यकता है, इसे काशी के विद्वत् पंडितों के मध्य कह सकने की क्षमता रखने वाले द्विवेदी जी कितने आधुनिक रहे होगें, समझा जा सकता है। मनोहर श्याम जोशी को दिए गए एक साक्षात्कार में द्विवेदी जी एक घटना का जिक्र करते हैं– "हमारे विद्यालय में एक छात्र ने कुर्ता पहन कर खा लिया, उसे भ्रष्ट घोषित कर दिया गया। उसका पक्ष मैंने लिया और शास्त्रार्थ किया। यह सिद्ध करने की कोशिश की शास्त्रों में कुर्ता पहन कर खाने का निशेध नहीं है।"[3] इसे हम ब्राह्मण परिवार के एक युवा को ज्योतिश एवं संस्कृत पढ़ते हुए भी 'प्रोगेसिव' (आधुनिक) होने की दृष्टि से देखते हैं।

'वाणभट्ट की आत्मकथा' में विरतिवज्र के सन्यासी हो जाने के बाद की एक घटना को द्विवेदी जी इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं। इसमें विरतिवज्र की माता अपनी पुत्रवधु सुचरिता को लेकर भटक रही है और अचानक विरतिवज्र से मुलाकात हो जाती है। वह विरतिवज्र को पहचान लेती है पर सन्यास धर्म से च्युत हो जाने के भय से विरतिवज्र उन्हें पहचानने से इन्कार कर देता है और कहता है कि पचास अन्य आर्याओं की तरह वह भी एक आर्या है। यह जानकर माता के रूप में द्विवेदी जी भड़क उठते हैं– "अरे ओ मूढ़! रटी हुई बोल रहा है तू। भंड है वह धर्माचार, जो अपनी माता को पहचानने में लज्जा अनुभव कराता है। इस दुखमय संसार को और भी दुखमय बनाकर ही क्या तेरा सुख का राज मार्ग तेयार होगा? स्वार्थी है तेरा मार्ग, धिक्कार है तेरे पौरूश को।"[4] समाज से भागकर सुख के मार्ग की तलाश करने को द्विवेदी जी ने सर्वथा अनुचित माना है। इसे वे सीधे–सीधे 'पाखंड' की संज्ञा देते हैं। जिम्मेदारियों से छूट जाना तो सुखकर ही है, तपस्या तो समाज में रहकर की जाती है, जहाँ अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए आप कितने गिर सकते हैं, सहनशील हो सकते हैं या त्याग कर सकते हैं, की परीक्षा होती है। 'अनामदास का पोथा' में रैक्व की कथा के द्वारा द्विवेदी जी ने अपने इसी तत्त्व–ज्ञान को पाठकों के समक्ष रखा है। शास्त्रों में दिए गए शुष्क ज्ञान– पंथ की विडम्बनाओं को अनावृत्त कर द्विवेदी जी

इसी ध्रुव सत्य को प्रकाश में लाने का प्रयास करते हैं कि समाज की सेवा ही तपस्या है, मानवीयता का कार्य ही धर्म है। तपस्या की इसी परंपरा को रैक्व के समक्ष उद्धृत करते हुए माता अरून्धती कहती हैं – "जो अपने आप की सुख–सुविधा का ध्यान न रखकर दूसरों के दुःख को दूर करने का प्रयत्न करता है, सत्य से च्युत नहीं होता, दूसरों के कष्ट को दूर करने के लिए अपने प्राण तक त्याग सकता है, वही धार्मिक है। वह परम या चरम तत्व के बारे में क्या मानता है यह बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात यह है कि वह कैसा आचरण करता है, औरों के साथ कैसा व्यवहार करता है, उसके लिए कितना त्यागकर सकता है, यही तय करेगा कि वह धर्म–परायण है या नहीं।"[5]

द्विवेदी जी ने बार–बार इस तरह के प्रसंगों द्वारा लोक एवं शास्त्र के द्वंद को उभारते हुए लोक की महत्ता को शास्त्र से ऊपर स्थित किया है। 'लोक–ताप से तप्त होना सब से बड़ा तप है, क्योंकि वह अखिलात्मा पुरुश की परमाधना है। यही वैश्वानर–उपासना भी है।

औशस्ति ऋशि की दृष्टि में आचार्य द्विवेदी की दृष्टि अन्तर्गुम्फित है। लोक–कल्याण ही महत्वपूर्ण वस्तु है। तपस्या के लिए लोक को त्याग देना, स्वयं को लोक के प्रति जिम्मेदारियों से मुक्त कर लेना है। यह एक तरह का पलायन है। 'अनामदास का पोथा' में किशोर तपस्वी रैक्व माता अरुन्धती एवं ऋशि औशस्ति के निर्देशन में मार्ग पाता है। ऋशि एवं ऋशि–पत्नी कोरे एवं शुष्क ज्ञान की प्राप्ति को तपस्या नहीं मानते। वे रैक्व का मार्गदर्शन करते हुए समाज की प्रतिष्ठा करते हैं। समाज में जन्म लेने वाले मनुश्य की, समाज के प्रति दाय को स्वीकार करने पर जोर देते हैं। ऋशि पत्नी के वाक्यों द्वारा आचार्य द्विवेदी ज्ञानियों की उन बातों से अपना मतभेद प्रदर्शित करते हैं, जो 'मन' की उपेक्षा करने को कहते हैं या जो मन को वश में कर लेने को ही प्राप्ति मानते हैं। वे कहते हैं–''आजकल लोग मूल तत्त्व की खोज में पागल–से हो रहे हैं। वे इस निष्कर्श पर पहुँचे जान पड़ते हैं कि शरीर, प्राण, मन, बुद्धि–सभी नष्ट हो जाने वाले तत्त्व हैं। सच्चा तत्त्व, जिससे सारा जगत् उत्पन्न हुआ है, जिसके बल पर सबकुछ जी रहा है और अंत में सबको जिसमें लीन हो जाना है, वह ब्रह्म है, वही शरीर में आत्मा है। उसे देखा नहीं जा सकता, पकड़ा नहीं जा सकता, वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है। इसी को एक शब्द में 'तज्जलान' कहा जाता है। मेरी समझ में यह सब नहीं आता। आ भी नहीं सकता।'' [6]

द्विवेदी जी इन शास्त्रोक्त वाक्यों से अपना मतभेद रखते हैं और मन को ही शक्ति मानते हैं। यह मन ही है, जिसके कारण हम कोई निश्चय लेते हैं, कोई निर्णय मन में ही पैदा होंगे। कर्म तो इन्द्रियों द्वारा ही निश्पन्न होगा। हों नाशमान् पर ये प्राण, मन, इन्द्रिय, शरीर–ये ही तो हमारे साधन हैं। इसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है। पुराण ऋशियों की यह बात मुझे बहुत पसंद आती है कि 'कामना–रूपी नदी पुण्य और पाप के दो किनारों के बीच प्रवाहित होती है, अपने संकल्प या दृढ़ निश्चय के द्वारा हमें इसे पुण्य के अनुकूल करना होता है।' इसलिए मन की हम उपेक्षा नहीं कर सकते।''[7] मनुष्य एवं समाज को अपने चिंतन के केन्द्र में रखते हुए आचार्य द्विवेदी यह तय करते हैं कि जिन कर्मों से मनुष्यता को प्रतिष्ठित किया जाता है, वे ही पुण्य–कार्य हैं। मनुष्य को अपने मन द्वारा शुभ संकल्प साधना चाहिए और मनुष्यता के हित में अपने इन्द्रियों का योगदान देना चाहिए। इस प्रकार द्विवेदी जी शास्त्रों में कही गई बातों में संशोधन करते हैं। जहाँ भी उनकी दृष्टि ने शास्त्रोक्त वाक्यों को लोक–व्यवहार को बाधित करते देखा, वहीं वे अपने मतों को तार्किक ढंग से अपने पात्रों द्वारा सबके समक्ष ले आते हैं। पाप एवं पुण्य जैसी अनुभूतियों को द्विवेदी जी इसी लोक में सिद्ध करते हैं और इसे अंतःकरण की सच्ची अनुभूतियों से जोड़ते हैं– ''.....जिस कार्य से किसी को शारीरिक या मानसिक कष्ट होता है, वह पाप कार्य है। पर जिससे किसी का दुःख दूर हो, उसका इह लोक और पर लोक सुधर जाए, रोगी निरोग हो जाए, दुखिया सुखी हो जाए, भूखा अन्न पाए, प्यासा जल पाए, कमजोर लोग आश्वासन पाएँ, वे सब पुण्य हैं; क्योंकि इनसे अन्तःकरण में विराजमान परम देवता प्रसन्न होते हैं।''[7]

अंतःकरण में स्थित देवता अर्थात् व्यक्ति के अन्तरात्मा की आवाज! द्विवेदी जी के सभी उपन्यासों में अंतरात्मा की आवाज सुनने को कहा गया है। देवता को हृदय के भीतर अवस्थित जानने का निर्देश द्विवेदी जी इसलिए देते हैं कि उन्हें मालूम है, व्यक्ति कई बार जो करना चाहता है, वह किसी लोकोपवाद के कारण नहीं कर पाता। मनुष्य को अंदर के द्वंद्व से उबरने के लिए द्विवेदी जी अंतःकरण की आवाज सुनने पर जोर देते हैं। 'अनामदास का पोथा' में रैक्व को इसी प्रकार के द्वंद्व में फंसे देखकर महर्षि औशस्ति कहते हैं– ''किसी की बात पर तब तक विश्वास नहीं करना चाहिए, जब तक उसकी स्वयं परीक्षा न कर ली जाए। तुम्हारे भीतर जो देवता स्तब्ध रूप से बैठे हैं, उन्हें पहचानों! वे तुमहारा ठीक मार्ग–दर्शन करेंगे। वही प्रज्ञा रूप हैं।''[9] आचार्य द्विवेदी का मानवतावादी दर्शन देवता को मनुष्य की आत्मा, बुद्धि एवं आंतरिक शक्ति के रूप में स्वीकार करता है। इसलिए मनुष्य के मानवीय कर्मों को ही प्रधानता देते हुए वे हृदय में 'देवता के निवास' को पुष्ट करते हैं, जो व्यक्ति को शुभ कार्य की प्रेरणा देता है।

Conclusion

आचार्य द्विवेदी जिस धर्म की स्थापना के पक्ष में सशक्त खड़े हैं, वह मनुष्यता मात्र है, इससे इतर कुछ भी नहीं। किसी भी ईश्वर के मूर्त या अमूर्त रूप की उपासना करने वाला व्यक्ति अगर दूसरे मनुष्य के साथ दुर्भावनायुक्त व्यवहार करता है, भेद–भाव रखता है, घृणा अथवा ऊँच–नीच के विषय सोचता है, तो वह ईश्वर का अनुयायी नहीं है। वह मनुश्य है तो उसका व्यवहार मनुष्यवत होना चाहिए और उसका धर्म मनुष्यता। अन्यथा उसके द्वारा किया गया सभी कार्य–व्यवहार ढोंग, भण्डाचार मात्र है।

सन्दर्भ

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग–2, पुनर्नवा, पृ0 286
2. साप्ताहिक हिंदुस्तान 17 जून 1979, पृ0 26
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग–1, वाणभट्ट की आत्मकथा, पृ0 177
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग–2, 'अनामदास का पोथा', पृ0 354
5. वही– पृ0 365
6. वही– पृ0 355
7. वही– पृ0 355
8. वही– पृ0 355
9. वही– पृ0 441